श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.7)

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार ।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
एकादशः स्कन्धः
॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच
यदात्थ मां(म्) महाभाग, तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः(स्), स्ववासं(म्) मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- महाभाग्यवान् उद्धव! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकों में होकर अपने धाम को चला जाऊँ।

मया निष्पादितं(म्) ह्यत्र, देवकार्यमशेषतः ।
यदर्थमवतीर्णोऽह- मं(म्)शेन ब्रह्मणार्थितः ॥ 2॥

पृथ्वी पर देवताओं का जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका। इसी काम के लिये ब्रह्मा जी की प्रार्थना से मैं बलराम जी के साथ अवतीर्ण हुआ था।

कुलं(वँ) वै शापनिर्दग्धं(न्), नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।

समुद्रः(स्) सप्तमेऽह्न्येतां(म्), पुरीं(ञ्) च प्लावयिष्यति ॥ 3॥

अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणों के शाप से भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्ध से नष्ट हो जायेगा। आज के सातवें दिन समुद्र इस पुरी द्वारका को डुबो देगा।

यर्ह्येवायं(म्) मया त्यक्तो, लोकोऽयं(न्) नष्टमं(ङ्)गलः ।

भविष्यत्यचिरात् साधो, कलिनापि निराकृतः ॥ 4॥

प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोक का परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मंगल नष्ट हो जायेंगे और थोड़े ही दिनों में पृथ्वी पर कलियुग का बोलबाला हो जायेगा।

न वस्तव्यं(न्) त्वयैवेह, मया त्यक्ते महीतले ।

जनोऽधर्मरुचिर्भद्र, भविष्यति कलौ युगे ॥ 5॥

जब मैं इस पृथ्वी का त्याग कर दूँ, तब तुम इस पर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव! कलियुग में अधिकांश लोगों की रुचि अधर्म में ही होगी।

त्वं(न्) तु सर्वं(म्) परित्यज्य, स्नेहं(म्) स्वजनबन्धुषु ।

मय्यावेश्य मनः(स्) सम्यक्, समदृग् विचरस्व गाम् ॥ 6॥

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवों का स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्य प्रेम से मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टि से पृथ्वी में स्वच्छन्द विचरण करो।

यदिदं(म्) मनसा वाचा, चक्षुर्भ्यां(म्) श्रवणादिभिः ।

नश्वरं(ङ्) गृह्यमाणं(ञ्) च, विद्धि मायामनोमयम् ॥ 7॥

इस जगत् में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपने की तरह मन का विलास है। इसलिए मायामात्र है, मिथ्या है-ऐसा समझ लो।

पुं(म्)सोऽयुक्तस्य नानार्थो, भ्रमः(स्) स गुणदोषभाक् ।

कर्माकर्मविकर्मेति, गुणदोषधियो भिदा ॥ 8॥

जिस पुरुष का मन अशान्त है, असंयत है, उसी को पागल की तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तव में यह चित्त का भ्रम ही है। नानात्व का भ्रम हो जाने पर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकार की कल्पना करनी पड़ती है। जिसकी बुद्धि में गुण और दोष का भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसी के लिये कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद का प्रतिपादन हुआ है।

तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो, युक्तचित्त इदं(ञ्) जगत् ।

आत्मनीक्षस्व विवित- मात्मानं(म्) मय्यधीश्वरे ॥ 9॥

अतः हे उद्धव! तुम अपनी सारी इंद्रियों को वश में कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथ में ले लो और केवल इंद्रियों को ही नहीं , चित्त की समस्त वृत्तियों को भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत अपने आत्मा में ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इंद्रियातीत ब्रह्म से एक है , अभिन्न है।

ज्ञानविज्ञानसं(यँ)युक्त, आत्मभूतः(श्) शरीरिणाम् ।

आत्मानुभवतुष्टात्मा, नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ 10॥

जब वेदों के मुख्य तात्पर्य-निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञान से भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्मा के अनुभव में ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियों के आत्मा हो जाओगे। इसलिये किसी भी विघ्न से तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करने वालों की आत्मा भी तुम्हीं होगे।

दोषबुद्ध्योभयातीतो, निषेधान्न निवर्तते ।

गुणबुद्ध्या च विहितं(न्), न करोति यथार्भकः ॥ 11॥

जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धि से अतीत हो जाता है, वह बालक के समान निषिद्ध कर्म से निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धि से नहीं। वह विहित कर्म का अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुणबुद्धि से नहीं।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो, ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।

पश्यन् मदात्मकं(वँ) विश्वं(न्), न विपद्येत वै पुनः ॥ 12॥

जिसने श्रुतियों के तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया , बल्कि उसका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चय से संपन्न हो ज्ञ है वह समस्त प्राणियों का हितैषी सुहृद होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शांत रहती है । वह समस्त प्रतीयमान विश्व को मेरा ही स्वरूप - आनंदस्वरूप देखता है, इसलिए उसे फिर जन्म- मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता ।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता, महाभागवतो नृप ।

उद्धवः(फ्) प्रणिपत्याह, तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥ 13॥

श्रीशुकदेव जी कहते हैं- परीक्षित! जब भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान के परम प्रेमी उद्धव जी ने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से यह प्रश्न किया।

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास, योगात्मन् योगसम्भव ।

निः(श्)श्रेयसाय मे प्रोक्तस्- त्यागः(स्) सं(न्)न्यासलक्षणः ॥ 14॥

उद्धव जी ने कहा- 'भगवन्! आप ही समस्त योगियों की गुप्त पूँजी योगों के कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगों के आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम-कल्याण के लिये उस संन्यासरूप त्याग का उपदेश किया है।

त्यागोऽयं(न्) दुष्करो भूमन्, कामानां(वँ) विषयात्मभिः ।

सुतरां(न्) त्वयि सर्वात्मन्- नभक्तैरिति मे मतिः ॥ 15॥

परन्तु अनन्त! जो लोग विषयों के चिन्तन और सेवन में घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओं का त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप! उसमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकार का त्याग सर्वथा असम्भव ही है, ऐसा मेरा निश्चय है।

सोऽहं(म्) ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्-

त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।

तत्त्वज्ञसा निगदितं(म्) भवता यथाहं(म्),

सं(म्)साधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ 16॥

प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भाव से मैं आपकी माया के खेल, देह और देह के सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदि में डूब रहा हूँ। अतः भगवन्! आपने जिस संन्यास का उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवक को इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ।

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं(वँ),

वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।

सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे,

ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ 17॥

हे प्रभु ! आप भूत,भविष्य,वर्तमान इन तीनों कालों से अबाधित एकरस सत्य हैं। ऐप दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप हैं। मैं समझता हूँ की मेरे लिए आत्मतत्व का उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओं में भी कोई नहीं है । ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं ,वे सब शरीराभिमानी होने के कारण आपकी माया से मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि माया के वश में हो गई है। यही कारण है कि वे इन्द्रियों से अनुभव किए जानेवाले बाह्य विषयों को सत्य मानते हैं।इसलिए मुझे तो आप ही उपदेश कीजिए ।

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं(म्),

सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।

निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो,

नारायणं(न्) नरसखं(म्) शरणं(म्) प्रपद्ये ॥ 18॥

भगवन्! इसी से चारों ओर से दुःखों की दावाग्नि से जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप निर्दोष देश-काल से अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठलोक के निवासी एवं नर के नित्य सखा नारायण हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके, लोकतत्त्वविचक्षणाः।

समुद्धरन्ति ह्यात्मान- मात्मनैवाशुभाशयात् ॥19॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- उद्धव! संसार में जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातों का विचार करने में निपुण हैं, वे चित्त में भरी हुई अशुभ वासनाओं से अपने-आप को स्वयं अपनी विवेक-शक्ति से ही प्रायः बचा लेते हैं।

आत्मनो गुरुरात्मैव , पुरुषस्य विशेषतः ।

यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां(म्), श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ 20॥

समस्त प्राणियों का विशेषकर मनुष्य का आत्मा अपने हित और अहित का उपदेशक गुरु है। क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित-अहित का निर्णय करने में पूर्णतः समर्थ है।

पुरुषत्वे च मां(न्) धीराः(स्), साङ्ख्ययोगविशारदाः ।

आविस्तरां(म्) प्रपश्यन्ति , सर्वशक्त्युपबृं(म्)हितम् ॥ 21॥

सांख्य- योगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्य योनि में इन्द्रिय शक्ति , मनः शक्ति आदि के आश्रयभूत मुझ आत्मतत्व को पूर्णतः प्रकट रूप से साक्षात्कार कर लेते हैं।

एकद्वित्रिचतुष्पादो, बहुपादस्तथापदः ।

बह्व्यः(स्) सन्ति पुरः(स्) सृष्टास्- तासां(म्) मे पौरुषी प्रिया ॥ 22॥

मैंने एक पैर वाले, दो पैर वाले, तीन पैर वाले, चार पैर वाले, चार से अधिक पैर वाले और बिना पैर के- इत्यादि अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्य का ही शरीर है।

अत्र मां(म्) मार्गयन्त्यद्धा, युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।

गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गै- रग्राह्यमनुमानतः ॥ 23॥

इस मनुष्य शरीर में एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किए जाने वाले हेतुओं से जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमान से अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयों से भिन्न मुझ सर्वप्रवर्त्तक ईश्वर को साक्षात अनुभव करते हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीम- मितिहासं(म्) पुरातनम् ।

अवधूतस्य सं(वँ)वादं(यँ), यदोरमिततेजसः ॥ 24॥

इस विषय में महात्मा-लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदु के संवाद के रूप में है।

अवधूतं(न्) द्विजं(ङ्) कं(ञ्)चिच्- चरन्तमकुतोभयम् ।

कविं(न्) निरीक्ष्य तरुणं(यँ), यदुः(फ्) पप्रच्छ धर्मवित् ॥ 25॥

एक बार धर्म के मर्मज्ञ राजा यदु ने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया।

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं(म्) ब्रह्मन्- नकर्तुः(स्) सुविशारदा ।

यामासाद्य भवाँल्लोकं(वँ), विद्वांं(म्)श्चरति बालवत् ॥ 26॥

राजा यदु ने पूछा-'ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान होने पर भी बालक के समान संसार में विचरते रहते हैं।

प्रायो धर्मार्थकामेषु, विवित्सायां(ञ्) च मानवाः ।

हेतुनैव समीहन्ते, आयुषो यशसः(श्) श्रियः ॥ 27॥

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदि की अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

त्वं(न्) तु कल्पः(ख्) कविर्दक्षः(स्), सुभगोऽमृतभाषणः ।

न कर्ता नेहसे किं(ञ्)चिज्- जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ 28॥

मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करने में समर्थ, विद्वान और निपुण हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणी से तो मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड़, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं।

जनेषु दह्यमानेषु, कामलोभदवाग्निना ।

न तप्यसेऽग्निना मुक्तो, गं(ङ्)गाम्भः(स्)स्थ इव द्विपः ॥ 29॥

संसार के अधिकांश लोग काम और लोभ के दावानल से जल रहे हैं। परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आप तक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वन में दावाग्नि लगने पर उससे छूटकर गंगाजल में खड़ा हो।

त्वं(म्) हि नः(फ्) पृच्छतां(म्) ब्रह्मन्- नात्मन्यानन्दकारणम् ।

ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य, भवतः(ख्) केवलात्मनः ॥ 30॥

ब्रह्मन्! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसार के स्पर्श से भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मा में ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये।

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं(म्) महाभागो, ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।

पृष्टः(स्) सभाजितः(फ्) प्राह, प्रश्रयावनतं(न्) द्विजः ॥ 31॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- उद्धव! हमारे पूर्वज महाराज यदु की बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदय में ब्राह्मण-भक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेय जी का अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्र भाव से सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेय जी ने कहा।

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन्, बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।

यतो बुद्धिमुपादाय, मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥ 32॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेय जी ने कहा- 'राजन्! मैंने अपनी बुद्धि से बहुत-से गुरुओं का आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत् में मुक्तभाव से स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओं के नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो।

पृथिवी वायुराकाश- मापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।

कपोतोऽजगरः(स्) सिन्धुः(फ्), पतं(ङ्)गो मधुकृद् गजः ॥ 33॥

मेरे गुरुओं के नाम हैं- पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी ।

मधुहा हरिणो मीनः(फ्), पिं(ङ्)गला कुररोऽर्भकः।

कुमारी शरकृत् सर्प, ऊर्णनाभिः(स्) सुपेशकृत्॥ 34॥

शहद निकालने वाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट।

एते मे गुरवो राजं(म्)श्- चतुर्विं(म्)शतिराश्रिताः ।

शिक्षा वृत्तिभिरेतेषा- मन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ 35॥

राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओं का आश्रय लिया है और इन्हीं के आचरण से इस लोक में अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है।

यतो यदनुशिक्षामि, यथा वा नाहुषात्मज ।

तत्तथा पुरुषव्याघ्र, निबोध कथयामि ते ॥ 36॥

वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि, धीरो दैववशानुगैः ।

तद् विद्वान्न चलेन्मार्गा- दन्वशिक्षं(ङ्) क्षितेर्व्रतम् ॥ 37॥

मैंने पृथ्वी से उसके धैर्य की, क्षमा की शिक्षा ली है। लोग पृथ्वी पर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसी से बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसार के सभी प्राणी अपने - अपने प्रारब्ध के अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय समय पर भिन्न- भिन्न प्रकार से जान या अनजान में आक्रमण कर बैठते हैं।-धीर पुरुष को चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे। अपने मार्ग पर ज्यों-का-त्यों चलता रहे।

शश्वत्परार्थसर्वेहः(फ्) परार्थैकान्तसम्भवः ।

साधुः(श्) शिक्षेत भूभृत्तो, नगशिष्यः(फ्) परात्मताम् ॥ 38॥

पृथ्वी के ही विकार पर्वत और वृक्ष से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरों के हित के लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरों का हित करने के लिये ही हुआ है, साधु पुरुष को चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकार की शिक्षा ग्रहण करे।

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्- मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।

ज्ञानं(यँ) यथा न नश्येत, नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ 39॥

मैंने शरीर के भीतर रहने वाले वायु-प्राणवायु से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहार मात्र की इच्छा रखता है और उसकी प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधक को भी चाहिये कि जितने से जीवन-निर्वाह हो जाये, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेप में उतने ही विषयों का उपयोग करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चंचल न हो और वाणी व्यर्थ की बातों में न लग जाये।

विषयेष्वाविशन् योगी, नानाधर्मेषु सर्वतः ।

गुणदोषैरव्यपेतात्मा, न विषज्जेत वायुवत् ॥ 40॥

शरीर के बाहर रहने वाले वायु से मैंने यह सीखा है कि जैसे वायु को अनेक स्थानों में जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसी का भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होने पर विभिन्न प्रकार के धर्म और स्वभाव वाले विषयों में जाये, परन्तु अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। किसी के गुण या दोष की ओर झुक न जाये, किसी से आसक्ति या द्वेष न कर बैठे।

पार्थिवेष्विह देहेषु, प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।

गुणैर्न युज्यते योगी, गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ 41॥

गन्ध वायु का गुण नहीं, पृथ्वी का गुण है। परन्तु वायु को गन्ध का वहन करना पड़ता है। ऐसा करने पर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्ध से उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधक का जब तक इस पार्थिव शरीर से सम्बन्ध है, तब तक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदि का भी वहन करना पड़ता है। परन्तु अपने को शरीर नहीं, आत्मा के रूप में देखने वाला साधक शरीर और उसके गुणों का आश्रय होने पर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

अन्तर्हितश्च स्थिरजं(ङ्)गमेषु,

ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।

व्याप्त्याव्यवच्छेदमसं(ङ्)गमात्मनो,

मुनिर्नभस्त्वं(वँ) विततस्य भावयेत् ॥ 42॥

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में आकाश एक और अखण्ड ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मरूप से सर्वत्र स्थित होने के कारण ब्रह्म सभी में हैं। साधक को चाहिये कि सूत के मणियों में व्याप्त सूत के समान आत्मा को अखण्ड और असंगरूप से देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाश से ही की जा सकती है। इसलिए साधक को आत्मा की आकाशरूपता की भावना करनी चाहिये ।

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्- मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।

न स्पृश्यते नभस्तद्वत्, कालसृष्टैर्गुणैः(फ्) पुमान् ॥ 43॥

आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायु की प्रेरणा से बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होने पर भी आकाश अछूता रहता है। आकाश की दृष्टि से यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य के चक्कर में जाने किन-किन नाम रूपों की सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्मा के साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है।

स्वच्छः(फ्) प्रकृतितः(स्) स्निग्धो, माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।

मुनिः(फ्) पुनात्यपां(म्) मित्र- मीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ 44॥

जिस प्रकार जल स्वभाव से ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करने वाला होता है तथा गंगा आदि तीर्थों के दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारण से भी लोग पवित्र हो जाते हैं-वैसे ही साधक को भी स्वभाव से शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोक पावन होना चाहिये। जल से शिक्षा ग्रहण करने वाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारण से लोगों को पवित्र कर देता है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो, दुर्धर्षोदरभाजनः ।

सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा, नादत्ते मलमग्निवत् ॥ 45॥

राजन्! मैंने अग्नि से यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेज से दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रह के लिये कोई पात्र नहीं होता और विभिन्न वस्तुओं के दोषों से वह लिप्त नहीं होती वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्या से देदीप्यमान, इन्द्रियों से अपराभूत, भोजन मात्र का संग्रही और यथायोग्य सभी विषयों का उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखे, किसी का दोष अपने में न आने दे।

तिल चिच्छन्नः(ख्) क्वचित् स्पष्ट, उपास्यः(श्) श्रेय इच्छताम् ।

भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां(न्), दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥ 46॥

जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदि में) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाये। वह कहीं-कहीं ऐसे रूप में भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्नि के समान ही भिक्षारूप हवन करने वालों के अतीत और भावी अशुभ को भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है।

स्वमायया सृष्टमिदं(म्), सदसल्लक्षणं(वँ) विभुः ।

प्रविष्ट ईयते तत्तत्- स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ 47॥

साधक पुरुष को इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियों में रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लम्बी-चौड़ी दिखाई पड़ती है-वास्तव में वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी माया से रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत् में व्याप्त होने के कारण उन-उन वस्तुओं के नाम-रूप से कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनके रूप में प्रतीत होने लगता है।

विसर्गाद्याः(श्) शमशानान्ता, भावा देहस्य नात्मनः ।

कलानामिव चन्द्रस्य, कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ 48॥

मैंने चन्द्रमा से यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस काल के प्रभाव से चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीर की हैं, आत्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

कालेन ह्योघवेगेन, भूतानां(म्) प्रभवाप्ययौ ।

नित्यावपि न दृश्येते, आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ 49॥

जैसे आग की लपट अथवा दीपक की लौ क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होती रहती है-उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता-वैसे ही जलप्रवाह के समान वेगवान् काल के द्वारा क्षण-क्षण में प्राणियों के शरीर की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता।

गुणैर्गुणानुपादत्ते, यथाकालं(वँ) विमुञ्चति ।

न तेषु युज्यते योगी, गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ 50॥

राजन्! मैंने सूर्य से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणों से पृथ्वी का जल खींचते और समय पर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियों के द्वारा समय पर विषयों का ग्रहण करता है और समय आने पर उनका त्याग-उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रिय के किसी भी विषय में आसक्ति नहीं होती।

बुध्यते स्वे न भेदेन, व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।

लक्ष्यते स्थूलमतिभि- रात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ 51॥

स्थूलबुद्धि पुरुषों को जल के विभिन्न पात्रों में प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उन्हीं में प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियों के भेद से ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम

होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्य के समान एक ही है। स्वरूपतः उनमें कोई भेद नहीं है।

नातिस्नेहः(फ्) प्रसङ्गो वा, कर्तव्यः(ख्) क्वापि केनचित् ।

कुर्वन् विन्देत सन्तापं(ङ्), कपोत इव दीनधीः ॥ 52॥

राजन्! कहीं किसी के साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायेगी और उसे कबूतर की तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा।

कपोतः(ख्) कश्चनारण्ये, कृतनीडो वनस्पतौ ।

कपोत्या भार्यया सार्ध- मुवास कतिचित् समाः ॥ 53॥

राजन्! किसी जंगल में एक कबूतर रहता था, उसने एक पेड़ पर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी मादा कबूतरी के साथ वह कई वर्षों तक उसी घोंसले में रहा।

कपोतौ स्नेहगुणित- हृदयौ गृहधर्मिणौ ।

दृष्टिं(न्) दृष्ट्यां(ङ्)गमं(ङ्)गेन, बुद्धिं(म्) बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ 54॥

उस कबूतर के जोड़े के हृदय में निरन्तर एक-दूसरे के प्रति स्नेह की वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थ धर्म में इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरे की दृष्टि-से-दृष्टि, अंग-से-अंग और बुद्धि-से-बुद्धि को बाँध रखा था।

शय्यासनाटनस्थान- वार्ताक्रीडाशनादिकम् ।

मिथुनीभूय विस्रब्धौ, चेरतुर्वनराजिषु ॥ 55॥

उनका एक-दूसरे पर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशंक होकर वहाँ की वृक्षावली में एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे।

यं(यँ) यं(वँ) वाञ्छति सा राजं(म्)स्- तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।

तं(न्) तं(म्) समनयत् कामं(ङ्), कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ 56॥

राजन् कबूतरी पर कबूतर का इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पति की कामनाएँ पूर्ण करती।

कपोती प्रथमं(ङ्) गर्भं(ङ्), गृह्णती काल आगते ।

अण्डानि सुषुवे नीडे, स्वपत्युः(स्) सन्निधौ सती ॥ 57॥

समय आने पर कबूतरी को पहला गर्भ रहा। उसने अपने पति के पास ही घोंसले में अंडे दिये।

तेषु काले व्यजायन्त, रचितावयवा हरेः ।

शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः(ख्), कोमलां(ङ्)गतनूरुहाः ॥ 58॥

भगवान की अचिन्त्य शक्ति से समय आने पर वे अंडे फूट गये और उनमें से हाथ-पैर वाले बच्चे निकल आये। उनका एक-एक अंग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे।

प्रजाः(फ्) पुपुषतुः(फ्) प्रीतौ, दम्पती पुत्रवत्सलौ ।

शृण्वन्तौ कूजितं(न्) तासां(न्), निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ 59॥

अब उन कबूतर-कबूतरी की आँखें अपने बच्चों पर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्द से अपने बच्चों का लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्द मग्न हो जाते।

तासां(म्) पतत्रैः(स्) सुस्पर्शैः(ख्), कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।

प्रत्युद्गमैरदीनानां(म्), पितरौ मुदमापतुः ॥ 60॥

बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार पंखों से माँ-बाप का स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने माँ-बाप के पास दौड़ आते, तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते।

स्नेहानुबद्धहृदया- वन्योन्यं(वँ) विष्णुमायया ।

विमोहितौ दीनधियौ, शिशून् पुपुषतुः(फ्) प्रजाः ॥61॥

राजन्! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान की माया से मोहित हो रहे थे। उनका हृदय एक-दूसरे के स्नेह बन्धन से बँध रहा था। वे अपने नन्हें-नन्हें बच्चों के पालन-पोषण में इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोक की याद ही न आती।

एकदा जग्मतुस्तासा-मन्नार्थं(न्) तौ कुटुम्बिनौ ।

परितः(ख्) कानने तस्मिन्- नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ 62॥

एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चों के लिये चारा लाने जंगल में गये हुए थे। क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था। वे चारे के लिये चिरकाल तक जंगल में चारों ओर विचरते रहे।

दृष्ट्वा तांल्लुब्धकः(ख्) कश्चिद्, यदृच्छातो वनेचरः ।

जगृहे जालमातत्य, चरतः(स्) स्वालयान्तिके ॥63॥

इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसले की ओर आ निकला। उसने देखा कि घोंसले के आस-पास कबूतर के बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया।

कपोतश्च कपोती च, प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।

गतौ पोषणमादाय, स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ 64॥

कबूतर-कबूतरी बच्चों को खिलाने-पिलाने के लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसले के पास आये।

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य, बालकान् जालसं(वँ) वृतान् ।

तानभ्यधावत् क्रोशन्ती, क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ 65॥

कबूतरी ने देखा कि उसके नन्हें-नन्हे बच्चे उसके हृदय के टुकड़े जाल में फँसे हुए हैं और दुःख से व्यथित हो रहे हैं। उन्हें ऐसी स्थिति में देखकर कबूतरी के दुःख की सीमा न रही। वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी।

सासकृत्स्नेहगुणिता, दीनचित्ताजमायया।

स्वयं(ञ्) चाबध्यत शिचा, बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ 66॥

भगवान की माया से उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुःखी हो रहा था। वह उमड़ते हुए स्नेह की रस्सी से जकड़ी हुई थी; अपने बच्चों को जाल में फँसा देखकर उसे अपने शरीर की सुध-बुध न रही और वह स्वयं ही जाकर जाल में फँस गयी।

कपोतश्चात्मजान् बद्धा- नात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान् ।

भार्यां(ञ्) चात्मसमां(न्) दीनो, विललापातिदुःखितः ॥ 67॥

जब कबूतर ने देखा कि मेरे प्राणों से भी प्यारे बच्चे जाल में फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशा में पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी।

अहो मे पश्यतापाय- मल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।

अतृप्तस्याकृतार्थस्य, गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ 68॥

'मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ। हाय, हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। देखो, देखो, न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं। तब तक मेरा धर्म, अर्थ और काम का मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया।

अनुरूपानुकूला च, यस्य मे पतिदेवता ।

शून्ये गृहे मां(म्) सन्त्यज्य, पुत्रैः(स्) स्वर्याति साधुभिः ॥ 69॥

हाय! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, सब तरह से मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घर में छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चों के साथ स्वर्ग सिधार रही है।

सोऽहं(म्) शून्ये गृहे दीनो, मृतदारो मृतप्रजः ।

जिजीविषे किमर्थं(वँ) वा, विधुरो दुःखजीवितः ॥ 70॥

मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी की मृत्यु हो गई । मेरा अब संसार में क्या काम है? मुझ दीन का यह विधुर जीवन-बिना गृहणी का जीवन जलन का-व्यथा का जीवन है। अब मैं इस सूने घर में किसके लिये जीऊँ?'

तां(म्)स्तथैवावृताञ्छिग्भिर्- मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः ।

स्वयं(ञ्) च कृपणः(श्) शिक्षु, पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ 71॥

राजन्! कबूतर के बच्चे जाल में फँसकर तड़फड़ा रहे थे, स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौत के पंजे में हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जाल में कूद पड़ा।

तं(लँ) लब्ध्वा लुब्धकः(ख्) क्रूरः(ख्), कपोतं(ङ्) गृहमेधिनम् ।

कपोतकान् कपोतीं(ञ्) च, सिद्धार्थः(फ्) प्रययौ गृहम् ॥ 72॥

राजन्! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चों के मिल जाने से उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना।

एवं(ङ्) कुटुम्ब्यशान्तात्मा, द्वन्द्वारामः(फ्) पतत्रिवत् ।

पुष्णन् कुटुम्बं(ङ्) कृपणः(स्), सानुबन्धोऽवसीदति ॥ 73॥

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगों के संग-साथ में ही जिसे सुख मिलता है एवं अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतर के समान अपने कुटुम्ब के साथ कष्ट पाता है।

यः(फ्) प्राप्य मानुषं(लँ) लोकं(म्), मुक्तिद्वारमपावृतम् ।

गृहेषु खगवत् सक्तस्- तमारूढच्युतं(वँ) विदुः ॥ 74॥

यह मनुष्य-शरीर मुक्ति का खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतर की भाँति अपनी घर-गृहस्थी में ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचे तक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्र की भाषा में वह 'आरूढ़च्युत' है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ।।

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥